अनुक्रम

गाँव का होना....

धरोहर

बेटी का धन	प्रेमचन्द	7

विचार

गाँवों का नाश होता है, तो भारत का भी नाश हो जायेगा	सियाराम शर्मा	14
उजड़ता गाँव, उजड़ती सभ्यता का बाकी पत्र	पी.के. पद्मनाभन	20
गाँव : अब एक स्वप्न-चित्र मात्र	वी.जी. गोपालकृष्णन	24

निबन्ध

बहुत डराने लगा है अब गाँव	जयनंदन	27

विमर्श

समकालीन कविता : बदलती ग्राम संवेदना	एम. षण्मुखन	39
समकालीन कविता में गाँव	के. अजिता	44
वैभव के विनाश का दर्द (समकालीन कविता के संदर्भ में)	प्रभाकरन हेब्बार इल्लत	53
समकालीन कविता में उजड़ते गाँव का चित्रण	पी.के. प्रतिभा	59
नष्ट होती गांव की महक	सुमित. पी.वी.	64
समकालीन संस्कृत कविता में गाँव	बजरंग बिहारी तिवारी	68
उजड़ता गाँव और समकालीन उपन्यास	जिषा. सी.एम.	76
स्वाधीन भारत के किसान की व्यथा-कथा	वीरेन्द्र मोहन	84

कहानी

मुजरिम	लोकबाबू	96

कहानी पाठ

महुआ के सोम से आत्महत्या की ज़हर तक	पी. रवि	110

विमर्श

समकालीन हिन्दी कहानी में गाँव की जिंदगी और स्त्री	उदय कुमार	114
समकालीन कहानी में गाँव और किसान	दीप्ति ए.एस.	119
समकालीन कहानी में बदलते गाँव का परिदृश्य	आशा सी.आर.	126
भूमंडलीकरण में गाँव : कथाकार सुर्यपाल सिंह का संदर्भ	बजरंग बिहारी तिवारी	134

उद्योग गांव के कुएँ, तालाब, पोखर, नल-नाले, गाय, बैल एवं हल के साथ वहाँ के फूल-पौधों, वनस्पतियों एवं जीवजन्तुओं का नाश करता है। गाँव में ट्रैक्टर, ट्यूब वैल, मोटर गाडियाँ, बडी-बडी मशीनें मात्र रह जाएँगी। गाँव के छोटे किसानों, खेतीहर मज़दूरों के साथ कुटीर उद्योग भी गायब हो रहे हैं। ग्रामीण संस्कृति के विनाश के साथ किसान आत्महत्या इसका परिणाम है।

आज किसान आत्महत्या पूरे भारत की आम बात बन गयी है। किसान की आत्महत्या सिर्फ एक व्यक्ति की हत्या व मृत्यु नहीं, बल्कि एक संस्कृति की भी हत्या है। यह गाँव की हत्या होती है, असली भारत की हत्या होती है। यहाँ 'गोदान' के कुछ वाक्यों को उद्धृत करना चाहता हूँ, जो किसान की, गाँव की संस्कृति, जो मानवता पर खडी है, पर प्रकाश फैलाते हैं। "मैं तुम्हें नुक़सान नहीं पहुँचना चाहता। अपना धर्म यह नहीं कि मित्रों का गला दबाएँ। जैसे इतने दिन बीते हैं, वैसे और भी बीत जाएँगे।" (पृ. 8) "होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।" पृ. 10

"संकट की चीज़ लेना पाप है, यह बात जन्म-जन्मान्तरों से उसकी आत्मा का अंश बन गयी थी।" पृ. 10

"क्या हुआ, दस-पाँच मन भूसा चला जाएगा, बेचारे को संकट में पड़कर अपनी गाय तो न बेचनी पडेगी।" पृ. 11

"जीवन का सुख दूसरों को सुखी करने में है, उनको लूटने में नहीं।" पृ. 251

"होरी ने हंसकर कहा 'तो क्या यह मेरे मोटे होने के दिन है? मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन का सोच होता है, न इज़्ज़त का। इस ज़माने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख? सुख तो जब है कि सभी मोटे हो।" पृ. 308 किसान और गाँव कितने धनी थे मानसिक तौर पर, यह भूलने की बात नहीं है। वर्तमान सभ्य शहरी मनुष्य उनके आगे कितना छोटा एवं बौना है। उक्त ग्रामीण विरासत की हत्या कौन कर रहा है? मुज़रिम कौन है? पूँजीवादी सत्ता इस 'हत्या' को पलायन कहकर टाल सकती है? उसे मानसिक मामला कहकर खारिज कर सकती है? स्वतंत्रता आन्दोलन का मुख्य हथियार चरखा (कुटीर उद्योग) की स्थिति क्या है? उपर्युक्त समृद्ध ग्रामीण ज़िन्दगी का जो खाकाखा है यही भारतीय संस्कृति की बुनियाद है।

उजडते गाँव पर केन्द्रित यह अंक पाठकों के आगे प्रस्तुत करता है। इसमें कई तरह की सामग्रियाँ हैं, जो पाठकों को परेशान करने में समर्थ निकलें तो यह अंक सार्थक होगा।

पी. रवि
संपादक

गाँव का होना.....

भारत गाँवों का देश है, इसमें कोई मतभेद नहीं होगा। आज भारत से गाँवों का तिरोहित हो जाना भी नई बात नहीं है। ऐसी हालत में भारत की स्थिति क्या होगी? यह अहम सवाल है। गाँवों के गायब होने पर भारत को कहाँ ढूँढना होगा? क्या इतिहास ग्रंथों में, समाजशास्त्र की, अर्थशास्त्र की किताबों में खोजबीन करने को मजबूर होंगे? क्या गाँवों का बखान करना मात्र नोस्टालजिया है? गाँवों का विकास हो रहा है, गाँव परिवर्तित हो रहे है। विकासशील दुनिया में पुराने गाँवों को लेकर रोना क्या मूर्खता नहीं? क्या विकास विरोध नहीं? तब और भी प्रश्न उठता है कि क्या गाँव एक स्थल विशेष मात्र है? असल में गाँव एक स्थल विशेष से बढ़कर बहुत कुछ है, वे ही गाँव को गाँव बना देते हैं। गाँव के केन्द्र में उसकी अपनी संस्कृति होती है, जिसके मूल में ऊँचा नैतिक बोध है, सामूहिकता है, आपसी सहयोग एवं सहभागिता है; प्रकृति के साथ उसका सहज सहयोग है। वहाँ संकीर्ण स्वार्थ एवं मुनाफा के लिए स्थान कम होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि गाँव में स्वार्थ, मुनाफा, छल-कपट तो नहीं थे। 'गोदान' में होरी ही कहता है किसान स्वार्थी है। गाँव के द्वन्द्व के रूप में जब शहर सामने आता है तभी दोनों के अन्तर स्पष्ट हो जाएँगे। शहर के केन्द्र में व्यापार है, बाज़ार है, मुनाफा है और वहाँ समाज नहीं, झुंड मात्र है। बाज़ार में, व्यापार में नैतिकता एवं आदर्श की खोज करना भी निरर्थक ही है।

आज विकास का दौर है; विकास की चमक के साथ एक ओर गाँव की उपेक्षा की जा रही है तो दूसरी ओर गाँव की सहजता एवं मानवीयता नष्ट हो रही हैं। उपेक्षित गाँव में खेती उजड गई, गरीबी, भूख आदि फैलने लगीं और भूखे बेरोज़गार ग्रामीण शहर की ओर भागने लगे। गाँव उजडता रहा। उजडते गाँव के बारे में विवेकी राय यों कहते हैं "...मेरे भीतर गाँव, सच पूछे तो एक गंभीर पीडा की भाँति स्थित है। खैर, इस पीडा के कुरेदे जाने में भी एक आनंद है।" (कथादेश, मई 2012) गाँव के बारे में कहना, सोचना सिर्फ नोस्टालजिया नहीं, उसमें एक नैतिक ऊर्जा है। उसमें ऊँचे नैतिक एवं सामाजिक जीवन का स्वप्न है, शहरी तनाव से मुक्ति का आग्रह भी है। हकीकत यह है कि बाजार की मायिक व ऐन्द्रिक दुनिया में मनुष्य कैदी बनता जा रहा है, वह सुविधाओं की, रोज़गार की कैद में रहने को मज़बूर हो रहा है। पर गाँव की माँग को विकास विरोधी कहकर टाला जाता है। हरित क्रांति, कृषि का औद्योगिकरण व कृषि उद्योग आदि को गाँव के विकास के रूप में देखना क्या संगत होगा? किरन बर्मन के शब्दों में कहे तो "वास्तव में ग्रामीण विकास की बात एक छलावा है। वास्तविकता है कृषि व्यापार।" (आर्यकल्प - मार्च 2010, पृ. 126) राकेश कुमार भी इससे मिलता-जुलता मत प्रकट करते हैं - "वस्तुतः गाँवों का जिस ढंग से विकास किया जा रहा है वह गाँवों की तबाही और किसानों के विनाश का मार्ग है। वह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, बड़े-बड़े ज़मींदारों, नव धनाढ्यों की सम्पन्नता का रास्ता है। गाँवों में एक पूरी की पूरी नवसाम्राज्यवादी कृषि प्रौद्योगिकी खडी की जा रही है जो हमारी ग्राम्य संस्कृति को ही ध्वस्त कर रही है। यही कारण है कि बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान से प्रवासी श्रमिक रोजी-रोटी की तलाश में विस्थापित हो रहे हैं।" (आर्यकल्प, मार्च 2010, पृ. 95) कृषि